

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३९ अंक-१८६, वर्ष-१६, मार्च-२०१३

कारतक वद २, गुरुवार, दि.१६-११-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत,
वचनामृत-३८२ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - १५२

३८२ है न? ३८२ बोल।

‘आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है।’ आत्मा, उत्पाद-व्यय पर्यायमें है और स्वरूप ध्रुव है। ‘वह नित्य रहकर पलटता है।’ नित्य रहकर पलटता है। ‘उसका नित्यस्थायी स्वरूप...’ उसका जो शाश्वत स्वरूप है, वह स्थायी है वह ‘रीता नहीं’ वह जो नित्यवस्तु है वह रीता नहीं है परंतु ‘पूर्ण भरा हुआ है।’ आहा..हा..! समझ में आया? भगवानआत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वरूप है। उसमें जो नित्य रहनेवाली चीज है वह (रीता नहीं)। ‘वह नित्य रहकर पलटता है।’ ध्रुव रहकर उत्पाद-व्यय पर्याय में पलटते हैं। फिर भी यह नित्य वस्तु है वह रीता नहीं, भरी हुई है। नित्य वस्तु अनन्त गुणों से भरी है। आहा..हा..! समझ में आया? और इतना कहने मात्र से ज्ञान हो गया (सो बात नहीं है)। यह तों सिर्फ बताते हैं। समझ में आया?

जो तेरी चीज है वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्तं सत्। और यह उत्पाद-व्यय-ध्रुव नामका एक गुण भी आत्मामें है। आहा..हा..! जिससे कि उत्पाद-व्यय और ध्रुव होते हैं। परन्तु जो ध्रुव चीज है वह नित्य स्थायी है जो स्थायी स्थिर, ध्रुवबिंब शाश्वत रहती चीज...आहा..हा..! वह कोई रीता नहीं है। उसमें तो अनन्तानन्त गुण भरे हैं। आहा..हा..! समझ में आया? कितनी सरल भाषा है! ऐसा कहा और सुननेवाले ने लक्षगत किया। जाननेवाले ने लक्षगोचर किया, इससे कोई ज्ञान हो गया सो बात नहीं है। क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों के विचार में रहेगा तो वह तो विकल्प है। आहा..हा..! आत्मा है तो उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त। परन्तु इन तीनों के विचार में यदि अटकेगा तो .. आता है न आवश्यक। आवश्यक में नहीं? उत्पाद-व्यय-ध्रुव, द्रव्य-गुण-पर्यायिका विचार करना वह परवश है। ऐसा पराधीन राग आता है वह तो परवश आवश्यक नहीं है। वह अवश्य कर्तव्य नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया? सो तो यह चीज है। और यह नित्य चीज रीता नहीं। अनन्त गुणों का भण्डार भगवानआत्मा ध्रुव है। ऐसा दर्शाया है। जो कि जाननेवाले के ज्ञानमें भी आया। परन्तु ख्यालमें आया इससे कोई सम्यग्दर्शन हो गया (सो बात नहीं है)। आहा..हा..! व्यवहार से उन्होंने दर्शाया, तीन बतायें इससे जीव को सम्यग्दर्शन हुआ, व्यवहार से सम्यग्दर्शन हो गया, सो बात नहीं है, भाई!

गुरुने अनुग्रह करके... ‘कुंदकुंदाचार्य’ने कहा, हमारे गुरु जिन विज्ञानघन में निमग्न थे। उन्होंने



हमें दर्शाया कि, सो तो विकल्प और व्यवहार हुआ। हमपर अनुग्रह करके शुद्धात्मा का उपदेश दिया। सो तो व्यवहार हुआ। लक्ष में आया कि, ये ऐसा कह रहे हैं परन्तु इससे कोई शुद्धात्मा प्रगट हो गया (सो बात नहीं है)। आहा..हा..! ऐसी बात है ऊँची!

मुमुक्षु :- ...

पूज्य गुरुदेवश्री :- सो तो अभी इतना लक्षगोचर हुआ कि, ये ऐसा कह रहे हैं, इतना। परन्तु इससे कोई ज्ञान हो गया या सम्यग्दर्शन हो गया (सो बात नहीं है)। आहा..हा..! सम्यग्ज्ञान भी नहीं। लक्षगत् इसलिये सम्यग्ज्ञान हो गया (सो बात नहीं है)। आहा..हा..! सम्यग्ज्ञान तो त्रिकाली उत्पाद-व्यय की परिणति को ध्रुव की ओर झुकाने से.. मूल भूमि तो ज्ञान है। सो तो आया था न? शास्त्र का ज्ञान है सो कोई असली मूल भूमि नहीं है। आहा..हा..! मूल ज्ञान की उत्पत्ति, भूमि नाम उत्पत्ति का स्थान, सो तो भगवान त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है। आहा..हा..! समझ में आया? ये तो सिर्फ वह गौतम ने कहा व्यवहार से, इसलिये व्यवहार से लाभ होता है, शिष्यों को लाभ होता है, गौतम ने व्यवहार दर्शाया इसलिये लाभ होता है (ऐसा कहेंगे)। अरेरे..! क्या कहता है तू प्रभु? आहा..हा..! और यह भी दिगम्बर में आकर! श्वेताम्बर में तो ऐसी-ऐसी व्यवहार की बातें प्रचलित हैं इसलिये लोग मानते भी हैं और कहते भी हैं। परन्तु ऐसा सनातन जैनदर्शन, वस्तु स्वभाव दर्शन, विश्वदर्शन, आहा..हा..! ऐसा जो भगवान विश्व नाम समस्त को दिखनेवाले। आहा..हा..! उनका यह दर्शन है, जिसका नाम जैनधर्म है।

यह त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव और उत्पाद-व्यय की परिणति है वह ध्रुव है, सो गुणोंसे रहित नहीं है। यह ध्रुव अनन्तगुणों का पिण्ड हैं। ऐसी जानकारी दी। समझ में आया? ऐसी जानकारी होना मतलब सम्यग्दर्शन हो गया अरे! ऐसा जाना

इसलिये सम्यग्ज्ञान हो गया ऐसा कतई नहीं है। सो तो कल बात नहीं आयी थी? शास्त्रज्ञान है सो तो परज्ञेय है। आहा..हा..! शास्त्रने कहा, दिव्यध्वनि द्वारा कहा, अपने आप से लक्षगोचर हुआ, वाणी से नहीं। ऐसा समझ में आना सो भी परलक्षीज्ञान है। आहा..हा..! सो तो अभी परज्ञेय में निमग्न हैं। आहा..हा..! मार्ग अलौकिक है भाई! आहा..हा..!

यह ध्रुव नित्य अनन्तगुणों से भरा भण्डार प्रभु है। उस पर दृष्टि देने से सम्यग्दर्शन होता है। तीनों का ज्ञान हुआ और आत्मामें अनन्तगुण है, पर्याय पलटती है इसलिये ज्ञान हुआ और सम्यग्दर्शन हो गया (ऐसा नहीं है)। आहा..हा..! अरेरे..! किसको दरकार है? कि मेरा क्या होगा? भाई! यहाँ से कहाँ जाऊँगा? भगवान तो नित्य रहनेवाली चीज है। नित्य रहनेवाला है (तो) कहाँ रहेगा? भाई! जिसने ऐसे भेद पर दृष्टि रखी है... आहा..हा..! सो तो सुबह नहीं आया था? कि भेद हैं सो पुद्गल के परिणाम हैं। आहा..हा..! गजब की बातें हैं। अभेद की दृष्टि प्रकट करने से उसमें भेद नहीं आते हैं। इस अपेक्षासे भेद, राग, रंग और भेद से भिन्न भगवानआत्मा है। आहा..हा..! वास्तवमें तो उत्पाद-व्यय की पर्याय के भेद से भी भिन्न है। आहा..हा..! ऐसी जानकारी तो कर ले परन्तु उसे ज्ञान कब हो? समझमें आया?

यह ध्रुव अनन्तानन्त गुणों का सागर भरा है, भगवान! आहा..हा..! उस पर पर्याय की दृष्टि को लगा। पर्यायमें तो द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार आता है परन्तु सो तो राग में अटकना हुआ। मैं ध्रुव हूँ, यह पर्याय है, ऐसा विचार भी राग में रुकावट का स्थान है। आहा..हा..! 'नियमसार' में हैं कि बहिरतत्त्व और अंतरतत्त्व उसकी श्रद्धा हैं वह व्यवहार समकित। यानी कि राग विकल्प... आहा..हा..! गजब बात करते हैं न। 'नियमसार'की

पाँचवीं गाथा। बहिरत्तत्त्व नाम संवर, निर्जरा, आस्रव आदि। जीव की एक समय की पर्याय आदि। वह बहिरत्तत्त्व है। जबकि अंतरत्तत्त्व परमात्मस्वरूप ध्रुव। इन दोनों की श्रद्धा वह व्यवहार समकित राग है। आहा..हा..! दो आये न? 'नियमसार' में है।

वहाँ भी 'नियमसार' में 'कुंदकुंदाचार्य' ऐसा कहते हैं कि, मैंने तो अपने लिये बनाया है। आहा..हा..! जो तीसरे स्थान में आये। 'मंगलम् भगवानवीरो, मंगलम् गौतमो गणी, मंगलम् कुंदकुंदार्यो...' आहा..हा..! वे ऐसा कहते हैं, कि यह 'नियमसार' मैंने अपनी भावना हेतु बनाया है। आहा..हा..! उसमें ऐसा कहा और टीकाकार ने टीका भी ऐसी ही की हैं। व्यवहार परिहार हेतु सार शब्द (की रचना की है)। आया न? आहा..हा..! मैंने अपनी भावना के लिये बनाया था। यह भावना ऐसी। आहा..हा..! कि उत्पाद, व्यय और पर्याय का जो व्यवहार है। आहा..हा..! इसके परिहार हेतु त्रिकाली ज्ञायकभाव के अवलंबन

द्वारा ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान और अनुभव होते हैं। इस उद्देश्यपूर्वक मैंने यह बनाया है। आहा..हा..! 'कुंदकुंदाचार्य' माने कौन! आहा..हा..! प्रथम क्रम पर तीर्थकर, दूसरे क्रम पर गणधर और तीसरे क्रम पर कुंदकुंदाचार्य! आहा..हा..! कैसे तो दूसरे आचार्यों जो गौतमस्वामी के बाद और भी थे। नहीं थे क्या? कि गौतमस्वामी के पश्चात् उनके शिष्य ये 'कुंदकुंदाचार्य' थे? आहा..हा..!

ऐसे 'कुंदकुंदाचार्य'! जो कि गणधर के बाद तीसरे क्रममें आते हैं वे ऐसा कहते हैं, प्रभु! एकबार सुन तो सही... आहा..हा..! कि तेरी चीज जो ध्रुव है उसमें अनन्तानन्त गुण भरे हैं। आहा..हा..! उस ध्रुव पर दृष्टि दे। ध्रुव को पकड़। आहा..हा..! ध्रुव को ध्यान का विषय बना। आहा..हा..! तो तुझे समयग्दर्शन होगा ऐसा कहते हैं। परन्तु सिर्फ जानकारी होने से सम्यग्दर्शन हो गया क्या? आहा..हा..! यह तो शास्त्र द्वारा जान। (विशेष आगे...)

धार्मिक कार्यक्रम

सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई के वार्षिक समाधिदिन पर तीन दिवसीय धार्मिक कार्यक्रम निम्नोक्त स्थान पर आयोजित किया गया है। चैत सुदी ३, शनिवार दि.१३-४-२०१३ से चैत सुदी ५, सोमवार दि.१५-४-२०१३ पर्यंत जिनमंदिर में मंडलविधान रखा गया है। एवं 'शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर' में प्रातः ७.०० से ८.०० पूज्य भाईश्री शशीभाई का सीडी प्रवचन, दोपहर ४.०० से ५.०० गुणानुवाद, रात ८.०० से ९.०० पूज्य भाईश्री शशीभाई का वीडियो प्रवचन एवं भक्ति रखी गई है। दि.१५-४-२०१३, चैत सुदी ५ के दिन सुबह ४.०० बजे 'शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर' में भक्ति एवं दो मिनट का मौन रखा जायेगा। तत्पश्चात् ७.०० से ८.०० प्रवचन और बाद में पूज्य भाईश्री के समाधि स्थल पर भक्ति रखी गई है। इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षुओं के लिए आवास एवं भोजन व्यवस्था निःशुल्क रखी गई है। आनेवाले मुमुक्षु भाई-बहनों से विनम्र सूचन है की वे अपने आने कि सूचना पहले से दे, ताकि उनके आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

संपर्क :- श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर, फोन : (०२७८) २५१५००५



श्री परमागमसार वचनामृत-३५१-३५२ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन-१७५
(दि.३-९-१९८३, भावनगर)

‘परमागमसार’ ६४ वाँ पन्ना। ३५२ फिसे शुरूसे लेते हैं।

‘परमात्मा फरमाते हैं कि प्रभु! तेरे ज्ञानकी पर्यायमें सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभव में आता है। ज्ञानकी प्रकट दशामें सर्व को भगवानआत्मा अनुभवमें आता है।’ क्या कहते हैं? अज्ञानी जीवको, संसारी जीवको भले ही पता न हो फिर भी यह परमात्मा का फरमान है, ऐसा लिया है। ‘फरमाते हैं’ ऐसा लिया न? फरमान है। या वे स्पष्ट कहते हैं कि, ‘तेरे ज्ञानकी पर्याय में सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभव में आता है।’ राग का अनुभव होना, राग के विषय का अनुभव होना, खट्टा, नमकीन, तीखा, दाल-चावल, सब्जी-रोटी इन सबका अनुभव नहीं होता है फिर भी भ्रम से मानी हुई बात है। वह मात्र ज्ञानमें ज्ञेयरूप मालूम होते हैं। दर्पणवत् प्रतिबिंबित होते हैं जबकि वास्तवमें इसका अनुभव होना संभव नहीं है।

‘समयसार’ कर्ता-कर्म अधिकार में ९२, ९३, ९४, ९५ गाथा में यह विषय है कि, जैसे आत्मा द्वारा शीत-उष्णरूप नहीं हुआ जा सकता। आत्मा ठण्डा नहीं हो सकता, आत्मा गर्म नहीं हो सकता, उष्ण नहीं हो सकता। क्योंकि शीत-उष्ण ये स्पर्श गुण की पर्यायें हैं। आत्मामें स्पर्शगुण नहीं है इसलिये इसकी कोई अवस्था होना संभव नहीं है। ज्यों आत्मा द्वारा शीत-उष्णरूप होना अशक्य है त्यों ही आत्मा द्वारा रागादिरूप होना भी अशक्य है; ऐसा लिया है। जैसे शीत-उष्णपन ज्ञान का ज्ञेय है, वैसे रागादि विभाव भी ज्ञान का ज्ञेय है।

ज्ञान द्वारा, आत्मा द्वारा अथवा ज्ञानद्वारा ज्ञानरूपपनेसे मिटकर अन्यथारूप कुछ भी होना अशक्य एवम् असंभवित है। हो ही नहीं सकता। इसलिये यहाँ तो इससे भी आगे अनुभव की बात ली है कि, ‘तेरे

ज्ञानकी पर्याय में सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभव में आता है। ज्ञान की प्रकट दशामें सर्व को भगवानआत्मा अनुभव में आता है।’ सर्व को मतलब इसमें किसीको वंचित नहीं रखा। सर्व जीवों को। निगोद का जीव हो, एकेन्द्रिय हो, दो इन्द्रिय हो, तेइन्द्रिय हो, चौरेंद्रिय हो, पंचेन्द्रिय हो, अज्ञानी हो, ज्ञानी हो, सिद्ध हो, कोई इसमें वंचित नहीं है।

साधक होनेपर तो सब जानते ही है कि, मैं अपने आप ही अनुभव में आ रहा हूँ। परन्तु बाधक जीव ये नहीं जानते हैं और नहीं मानते हैं। इसलिये उनके ऐसे भावोंको मिथ्याभाव कहा गया है। मिथ्यात्वसहित के भाव कहे गये हैं, वे सही परिणाम नहीं हैं। कोई ऐसा माने कि मैं अभी मनुष्य हो गया हूँ तो उसका ऐसा मानना झूठा है। वास्तव में वह आत्मा है। मनुष्य नहीं परन्तु आत्मा है।

(यहाँ) ‘सर्व’ को लिया न? ‘ज्ञानकी प्रकट दशा में सर्व को भगवानआत्मा अनुभव में आता है।’ ज्ञान अनुभव में आता है मतलब भगवानआत्मा अनुभव में आता है। ज्ञान का अनुभव वह आत्मा का अनुभव है ऐसा कहना है। ‘अमृतचंद्राचार्यदेव’ने ‘कर्ता-कर्मअधिकार’ में आगे वह बात ली है कि, ‘आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं’ आत्मा ज्ञान है और वह ज्ञान तो स्वयं ज्ञानरूप है। ‘ज्ञानादन्यत्करोति किम्’ अतः ज्ञान के अलावा करे भी क्या? ज्ञान द्वारा वह अन्य कुछ भी नहीं कर सकता। जो ज्ञान है वह ज्ञान के अलावा करे भी क्या? कि, ज्ञान ज्ञान के अलावा और कुछ नहीं कर सकता। उसके बावजूद भी कोई ऐसा माने कि ‘परभावस्य कर्तात्मा’ मैं तो राग का कर्ता हूँ। मैं शरीर के कार्य करनेवाला हूँ, शरीर की क्रिया करता हूँ, वाणी की क्रिया करता हूँ, जगत के अन्य संयोगों

में बदलाव की क्रिया करता हूँ। 'मोहयं व्यवहारिणाम्' यह जीव को व्यामोह हुआ है यानी कि भ्रम हुआ है, और कुछ नहीं है इसमें। हो नहीं सकता फिर भी मानता है वह भ्रम से मानता है।

वह १७ गाथामें इस बात की नींव डाली है, कि 'ज्ञानकी प्रकट दशामें सर्व को भगवान-आत्मा अनुभवमें आता है।' इतनी ही खोज अंतरंग में करनी आवश्यक है। वरना अन्यथा जो मान्यता हुई है वह टूटेगी नहीं। शरीर का कार्य मैं करता हूँ, राग को मैं करता हूँ। अन्य संयोगिक परिवर्तन करनेवाला मैं हूँ, यह मिटेगा नहीं। अंतरमें इतनी खोज करे कि, यह अनुभव किसका हो रहा है? जहाँ अनुभव हो रहा है और स्वपने अनुभव हो रहा है, अपनेआपरूप अनुभव हो रहा है, वह चीज क्या है? भगवान ऐसा कहते हैं कि, वह ज्ञान है, वह आत्मा है, इसके अलावा और कुछ नहीं है। तुम धोखेमें हो। अन्यथा मान्यता में तू धोखे में हो। वास्तवमें वह ज्ञान ही है और आत्मा ही है, और कुछ नहीं है।

गहराई में उतरकर देख ऐसा कहते हैं। तेरे अनुभव की गहराईमें उतरकर तू देख कि, तुझे किसका अनुभव हो रहा है? ज्ञान का है? राग का है? कि, राग के विषयभूत पुद्गल पदार्थ का है? तुझे किसका अनुभव हो रहा है? कोई ऐसा कहे कि, गर्मी (लगती है)। अग्नि से स्पष्ट गरमी लगती है। वह हाथमें सुलगता कोयला पकड़े तो क्या आत्मा को गरमी का अनुभव नहीं होता है? हाथ जल जाये, फोल्ले हो जाये, जल जाये। हाथ में सुलगता कोयला रखा हो तो हाथ जल जाता है, परन्तु ज्ञान जलता है कि नहीं जलता है? कि नहीं जलता है।

पाँच पांडवोंको सुलगते अलंकार, लोहे के सुलगते धधकते अलंकार पहनाये थे। यदि आत्मा जल जाता तो वहाँ मोक्षदशा, पूर्ण पवित्र दशा प्रगट नहीं होती। आत्मा को इसका अनुभव होता तो ज्ञान में स्थिर न रह पाते। किन्तु वे आत्माएँ ज्ञान में स्थिर रहे, यह इसका सबूत है कि इसके अनुभव से भिन्न रहा जा सकता है। यह स्पष्ट बात है। मुनियों के तो ऐसे हजारों दृष्टांत हैं कि शरीर का छेदन, भेदन, ताडन और इसके

टुकड़े-टुकड़े, कुर्चे कर दिये हो, पीस देवे, चक्की में सिर डाल कर पीस देवे, फिर भी आत्मस्थिरता नहीं छोड़ते और इतना ही नहीं उस वक्त पुरुषार्थ की विशेष उग्रता में आकर स्वरूपस्थिरतामें विशेष रूपसे लीन हो जाये, विशेष निमग्न हो जाये, ऐसी दशा आत्मा स्वतंत्ररूपसे प्रगट करता है, प्रगट कर सकता है और प्रगट करते हैं। यह जीव के निज सामर्थ्य का सवाल है। इसमें किसीका हस्तक्षेप काम नहीं आता।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- है। परन्तु ऐसे परमात्मतत्त्व है कि नहीं? परमात्मतत्त्व उसमें है या नहीं? फिर वे जो कहते हैं इसमें क्या हरजा है? वह शिष्य नहीं है। गुरु ऐसा कहते हैं कि, तू मेरा शिष्य नहीं और मैं तेरा गुरु नहीं। 'समयसार'की प्रथम गाथामें यह बात स्थापित की है कि मैं भी सिद्ध और तू भी सिद्ध। सिद्धपद को ही स्थापित किया है। प्रभु कहो या सिद्ध कहो। इतनी बात है। है कि नहीं?

परमात्मपना होनेपर भी... और भगवान तो उसके परमात्मपने को देखते हैं इसलिये कहते हैं कि, होने पर भी तू मानता नहीं है यह तेरी भूल है। तू स्वीकार नहीं करता है यह तेरी भूल है। परन्तु तू भूल करता था वह मिट जाये, उसका नाश हो जाये, उसका अभाव हो जाये ऐसा तो नहीं बनता। घर में गाढी हुई दौलत का पता न होने से वह कोई कंकर नहीं हो जाते। दौलत तो दौलत ही है। उसका भान होवे तो उपभोग होने का अवसर है। अगर भान नहीं है तो उपभोग होनेका अवसर नहीं है। इसलिये उसे नहीं होने के बराबर समझा जाता है। भीख माँगता रहता है। वैसे यह जीव दीनता करता रहता है कि, मुझे यह चाहिये.. मुझे यह चाहिये, इसके बिना मुझे नहीं चलेगा। ऐसी जो दीनता, लाचारी, पामरता जीव को जो रहती है वह स्वयं की प्रभुता को भूलकर होती है। अगर अपनी प्रभुता संबंधित सभानता रहे तो पामरता छूट जाती है।

साधक जीव पामर नहीं होते। इसीलिये तो 'मुनिशार्दुल' ऐसा कहते हैं, हे मुनिशार्दुल! शार्दुल नाम शेर। जैसे जंगल में जंगलका राजा मस्त होकर घूमता है। है उसको किसी का भय? शेर को किसीका भय

होता है क्या ? कि, कहीं कोई लोमड़ी आकर मुझे काट तो नहीं लेगी ? कोई हिरन आकर शींग मार देगा तो ? इसप्रकार मुनि जो होते हैं वे आत्मा की मस्ती में शेर की माफिक जंगल में विचरते हैं। उन्हें भय नहीं कि, कुछ होगा तो ? ऐसे डर का सवाल ही नहीं है। कुछ होगा तो ? यह प्रश्न ही उन्हें नहीं उठता। कुछ होने का प्रश्न ही मेरे में नहीं है। चैतन्यवज्र मेरा शरीर है। जिसे ज्ञानशरीर कहते हैं। ज्ञान-विग्रह। विग्रह, संस्कृतमें विग्रह शब्द है। विग्रह के दो अर्थ होते हैं। विग्रह नाम लड़ाई और दूसरा विग्रह नाम शरीर। ज्ञानविग्रह है। यह ज्ञान है वह वज्र समान है। ज्ञान है वह वज्र शरीर है। उसे न तो कोई स्पर्श कर सकता है, न तो छू सकता है फिर उसमें हानि कर दे कोई नुकसान कर दे, नाश कर दे इसका तो विचार ही करने जैसा विषय नहीं है। कोई आपको स्पर्श तक नहीं कर सकता। ऐसे अपने स्वरूपमें स्थिर है।

ऐसे गुरु यों कहते हैं, अनुभवपूर्वक कहते हैं कि, 'अनुभूतिस्वरूप'... स्वयं ही अनुभूति का पिण्ड है। जिसके अनुभव को मिटाया नहीं जा सकता। 'अनुभूतिस्वरूप भगवान् आत्मा अनुभवमें आने पर भी तू उसे नहीं देखता।' अनुभवगोचर होने के बावजूद भी तू उसे नहीं देखता।

एकबार प्रवचन में 'गुरुदेवश्री' ने ऐसी बात की थी कि जैसे कोई पूछे, किसी चीज को चबाता हो। चबाते-चबाते जीभ को इधर-उधर घूमाते हुए ऐसा पूछे कि, यह में जो चबा रहा हूँ इसके स्वाद के बारेमें तो कोई मुझे बताईए। लेकिन भाई ! तू मुँह में स्वाद ले रहा है और उसका विवेचन हम तुझे करके कहे तब तुझे पता चले ? यह किसप्रकार की बात है ?

इसतरह तुझे ज्ञान का आस्वादन निरंतर चल रहा है। इसके आस्वादन को तलाशे बिना इसके आस्वादन को अंतर अवलोकन में लेने के बजाय तू हमें आकर पूछते हो ? गुरु ऐसा कहते हैं। शास्त्र को आकर ऐसा पूछते हो, गुरु को आकर ऐसा पूछते हो कि, मुझे आत्माका अनुभव कैसे हो ? अनुभव नाम आस्वाद। आत्माका स्वाद कैसे आये ? यह बात किस प्रकार की है ? भाई ! भगवान् आत्मा तुझे निरंतर अनुभव में आ

ही रहा है। ऐसा कहते हैं।

'अनुभवप्रकाश' में एक दृष्टांत लिया है। कोई गुरु के पास, संत के पास जाकर (उन्हें कहता है), मुझे ज्ञान कराईये। तो गुरु कहते हैं कि, ज्ञान पाने के लिये मैं कहूँ उसके पास तू जा। शिष्य ने कहा, ठीक है, जैसी आपकी आज्ञा। उधर समुद्र के किनारे जाकर खड़े रहो। वहाँ एक मछली है। वह मछली तू जायेगा कि तुरंत किनारे पर आ जायेगी। उसे पुछना कि मुझे ज्ञान करा दो। ऐसा दृष्टांत लिया है। मछली भी उनकी तारीफ करती है और कहती है की आप लगते तो हो सज्जन। ठीक ! कैसी शैली ली है। सज्जनों का यह कर्तव्य है कि दूसरे के काम भी वे कर दे। आप हमारा एक काम कर दो, हम आपका काम कर देंगे। इसमें मुझे क्या आपत्ति है ? मेरे से संभव होगा तो अवश्य कर दूँगा। मुझे पानी चाहिये। एक लोटा ला दीजिये। पानी के बिना मुझे कहीं नहीं सुहाता, तो कहता है, क्या बात करते हो ? कि इतना बड़ा पानी का समंदर है और आप मेरे पास पानी माँगते हो ? पानीमें ही तो डूबे हुए हो। बस ! यही तो मैं कहना चाहती हूँ। अंदरमें ज्ञान का समुद्र डोलता है और इस ज्ञान के समुद्र में आत्मा डूबा हुआ है फिर भी आप हमें पूछते हो कि, मुझे ज्ञान कराओ, ज्ञान बताओ। आप स्वयं ही ज्ञानस्वरूप हो। ऐसा एक दृष्टांत दिया है। बस ! इतनी बात है। भीतरमें करवट बदलने जितनी ही देर है।

पर्यायबुद्धि के वश... क्यों नहीं दिखता ? कि, पर्यायबुद्धि के वश वर्तमान प्रगट उत्पाद-व्यय जितना भाव है वहाँ जीव पकड़में आ गया है। वेदनरूप भाव इतना ही है उसको। और इसमें भी स्वस्वरूप का ज्ञान न होनेसे रागवेदन को मुख्य करता है, विभाव के वेदन को मुख्य करता है। मुख्य करता है, हँ ! वेदन में तो उसे आ रहा है ज्ञान ही। परन्तु विभाव के ज्ञेय को मुख्य करता है। ज्ञेय में उसकी निष्ठा होनेसे 'प्रवचनसार' में उसे ज्ञेयनिष्ठ आत्मा कहा है। मिथ्यादृष्टि को कैसा कहा है ? ज्ञेयनिष्ठ कहा है। निष्ठा माने श्रद्धा। श्रद्धा माने उसमें अहंपनेका भाव। ज्ञेयनिष्ठपना होनेसे राग की मुख्यता करके वह ज्ञान को चुकता है। नाश तो

नहीं कर सकता परंतु वह भूल जाता है। इसलिये नहीं देखता है। क्यों नहीं देखता है? कि, पर्यायबुद्धि के वश हो जाने से। फिर तो इस पर्यायबुद्धि का बहुत विशेष विस्तार होता है, तब राग के विषयमें शरीर एवम् परपदार्थों में अहंभाव का अभ्यास करता है कि, यह शरीर सो मैं हूँ, मनुष्य सो मैं और इतना... इतना... इतना... इतना... है यह सब मेरा है। ऐसा वह नक्की करता है। जगत और अपनी सृष्टि को वह नक्की कर लेता है कि इतना-इतना मेरा है। इसले अलावा जो है वह मेरा नहीं है। फिर भी जितना मेरा नहीं है उसे अपना बनाने का जितना उद्यम करूँ वह मेरे लिये अच्छा है। इसतरह वह अधिक से अधिक बढ़ता ही जा रहा है। फिर उसी दिशामें आगे बढ़ता है। वह ऐसे कि, इतना मेरा है और इसके अलावा जितना भी है उसे मेरा बना लूँ तो अच्छा। ऐसा अनुकूलता बढ़ाने में प्रयत्नशील रहता है। उसीमें रहकर इतने कर्मबंधन करता है, कि फिर उसे मैं आत्मा हूँ ऐसी सूझ आना भी मुश्किल हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसकी दशा आवरित हो जाती है।

क्यों दिखता नहीं है? अनुभव में आने के बावजूद भी क्यों नहीं दिखता है? 'क्यों?-इसलिए कि पर्यायबुद्धि के वश हो जाने से...' पर्यायबुद्धि के वश होने से 'परद्रव्यों के साथ...' फिर विशेषरूप से अन्य पदार्थोंके साथ भी 'एकत्वबुद्धि के कारण स्वद्रव्य को नहीं देख सकता।' स्वद्रव्य को नहीं देख सकता है। स्वद्रव्य के भावरूप ज्ञान को भी नहीं देख सकता। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ या नहीं यह बात ही स्थान प्राप्त नहीं होती है। वह तो निःशंकरूप से वर्तता है। परभाव में एवम् परद्रव्य में अहंपने से निःशंक होकर प्रवर्तता है। उसे कहीं भी शंका तक नहीं उठती।

जगतमें ऐसा देखा जाता है कि, ये देखो इसने देह त्याग किया। अब उसका अस्तित्व नहीं रहा। ऐसे प्रसंग पर तो अच्छी तरह समझ सके, उसमें उपस्थित रहना होता है। ख्याल में आता है कि नहीं? इसके बावजूद भी मैं आत्मा देहस्वरूप हूँ या नहीं? इसकी शंका भी मनमें नहीं उठती है। अंदर में जो दरार पड़नी चाहिये। शरीर और शरीरसुख, जहाँ जहाँ आपको सुख

का आभास होता है वहाँ शंका हो जानी चाहिये, कि यह वास्तवमें सुख है या दुःख है? यह आत्मा है, यह मैं हूँ या मैं नहीं हूँ? मैं ऐसा या मैं ऐसा नहीं हूँ? एकबार जो अंतरमें मान्यतामें दरार आ जाये तो आपका जोर है वह टूट जायेगा, उस तरफका जोर है वह टूट जायेगा। लोग नहीं कहते कि, एकबार शंका की दरार आ जाये फिर व्यक्ति दूसरे प्रकार से सोचने लगता है। इसतरह आपको मैं आत्मा हूँ या मैं शरीर हूँ? इस बीच जो असमाधान होना चाहिये वह भी नहीं हुआ। आपने कभी शंका भी नहीं उठायी है और निःशंकरूप से चल रहे हो। निःशंकता से चलते हुए यूँ ही अनन्तकाल बीत जाता है।

क्या कहते हैं? कि 'पर्यायबुद्धि के वश हो जाने से...' पर्याय जितना ही मैं ऐसे 'पर्यायबुद्धि के वश हो जाने से...' 'पर्यायमूढा हि परसमयाः' 'प्रवचनसार' में तो सूत्र लिया है। जो पर्यायमूढ है - पर्याय जितना ही अपने आप को मानता है (वह) पर समय है। उसे स्वसमय यानी जैनमत में नहीं गिना जाता है। मैं जब शरीररूप भी नहीं हूँ फिर गृहस्थ या त्यागी हूँ यह बात ही अस्थान में है। पंडित या विद्वान हूँ यह बात नहीं रहती। फिर व्यापारी हूँ, यह प्रश्न ही नहीं उठता।

आत्मा हूँ मतलब ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ। भले ही लोग अन्यथा जानकर व्यवहार करे। सो तो व्यवहार करने की एक मर्यादा का विषय हो गया, वह व्यवहारमात्र है। वास्तवमें मैं ऐसा नहीं हूँ। इसतरह अंतरमें पर्यायबुद्धि छूटकर ज्ञानस्वभावमें स्वपने की बुद्धि होनी चाहिये। उसे आत्मज्ञान और आत्मदर्शन कहनेमें आता है। वह साध्य आत्मा की सिद्धि का उपाय है। यहाँ उस विषय को लेना है। साध्य आत्मा की सिद्धि की इसप्रकार उपपत्ति होती है। अन्यथा अनुत्पत्ति है। ऐसे मूल शब्द शास्त्र में हैं। उपपत्ति अर्थात् प्राप्ति। ३५२ हुआ।

मुमुक्षु :- अभी स्वाध्याय चल रहा है उसमें अपने प्रयोग में कैसे...

पूज्य भाईश्री :- इसमें ये शब्दों का अनुभव नहीं होता है परन्तु ज्ञान का अनुभव होता है। क्या होता

है? शब्द जिसमें प्रतिबिंबित हुए हैं ऐसे ज्ञान का अनुभव हो रहा है। शब्द के ज्ञान का नहीं बल्कि ज्ञान के ज्ञान का अनुभव होता है। क्योंकि शब्द का ज्ञान नहीं है। शब्द द्वारा ज्ञानकी रचना नहीं होनेसे यह ज्ञान शब्द का नहीं है। ज्ञान किसका है? कि ज्ञान का है। ज्ञान शब्द का नहीं है। क्योंकि शब्दरूप ज्ञान नहीं हो जाता। ज्ञान ज्ञानरूप रहता है और ज्ञानमें ज्ञान का अनुभव होता है। इसतरह अंतरमें ज्ञान को ज्ञान की अच्छीतरह पकड़ आ जानी चाहिये। ज्ञानको ज्ञानकी पकड़ आये बिना, जो उलटी पकड़ है इसमें क्या फर्क आयेगा? आपकी जो ज्ञेय पर पकड़ है वह ज्ञेय की पकड़ नहीं मिटनेवाली है। आगे ३५५ बोलमें एक बात बहुत अच्छी ली है।

३५५ में ज्ञानी है... वहाँ ज्ञानी की बात चली है। 'ध्यान में बैठते है तब...' आखरी दो पंक्ति हैं। ज्ञानी 'ध्यान में बैठते हैं तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय एक होनेसे आनन्द का रस आता है-इतना अवकाश रखकर राग में-बाहरमें आते हैं।' ऐसा कहना है। यह जो पीछे कहा है उसे प्रथम कहते हैं। ज्ञानी को राग है न? ज्ञानी को मन-वचन-काया की क्रिया दिखती है न? तो कहते हैं कि, वे जितने बाहरी प्रवृत्तिमें ज्ञानी दिखते हैं उसमें अवकाश रखा है। 'मोकळाश' समझते हो? अवकाश-जगह। इतना अवकाश रखकर बाहर आते हैं। कितना अवकाश रखकर बाहर आते हैं? कि, जब वे ध्यान में बैठते हैं तब एकाकार होकर आनंद का रस ले सके उतनी जगह रखकर।

जैसे कोई कहता है कि, आप इतनी मिठाई परोसीये, चाहे कितना भी खिलाईये, परन्तु मुझे दाल-चावल तो खाने पड़ेंगे। इसकी जगह रखने के पश्चात् ये सब खाना है। नास्ता करते समय तो दाल-चावल नहीं होते। खाने बैठे तब। चाहे कितना भी खा ले दाल-चावल की पेट में जगह रखकर खायेगा। कि नहीं? वैसे यहाँपर कहते हैं कि, ज्ञानी बाहर में जब प्रवर्तते हैं तब वे ध्यान में बैठे तब आनंद का रसास्वाद ले सके इतनी मर्यादा में अवकाश लेकर बाहर आते हैं। पहले से इतना अवकाश रख लेते हैं। यूँ ही पूरा-पूरा उलझकर जैसे अज्ञानी एकाकार हो जाता है वैसे नहीं

उलझते। इतना अवकाश है। कैसी-कैसी बातें 'गुरुदेवश्री' कहकर गये हैं!

कहते हैं कि, इतना अवकाश रखना चाहिये। भले ही बाह्य प्रवृत्ति उदय अनुसार आंशिकरूप से होनेवाली हो, करनी तो नहीं है किन्तु होनी हो सो हो परन्तु मूल बात है श्रद्धा द्वारा, ज्ञान द्वारा, चारित्र्य द्वारा, आचरण से भी आत्मासे अभेद होकर रहना है। ऐसा जो अभेदरूप से अंदर में रहना है, इसके अलावा कुछ नहीं करना है। इसप्रकार से अंदर में दृढ़ निश्चय हो जाना चाहिये। जो निश्चय कभी टूटे नहीं। फिर जो होना है सो हो, जो नहीं होना है सो नहीं हो। सारा जगत उथल-पुथल हो जाएँ तो भले हो जाएँ। यह दृढ़ता छोड़नी नहीं है। ऐसी अंदर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यकी आत्मा के साथ प्रगाढ़ अभेदता की है। 'सहि मुक्त एव' उसे कहते हैं कि वह मुक्त ही है। अब उसे दूसरा बंधन नहीं है। दूसरा कोई बंधन उसको है नहीं। उसे फिर बंधन गिनते ही नहीं है।

मुमुक्षु :- ज्ञानी की तरह अज्ञानी को ऐसी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है बल्कि उसमें राग की मुख्यता है।

पूज्य भाईश्री :- स्वयं को भूला है फिर उदयभाव को मुख्य करता है। उसे उदय सर्वस्व हो चूका है। आत्मा में सर्वस्वता नहीं रही। - यह कार्य नहीं कर रहा है। है तो सही उसका सर्वस्वपना तो आत्मामें ही है। अनंतगुणोंका सर्वस्व तो उसका आत्मा ही है। अनन्त गुणोंका रूप, सर्व गुणों का स्व-पना तो आत्मा ही है। सर्वस्व ऐसा जो अपना आत्मा उसे भूलकर अर्थात् बाह्य उदयभाव में सर्वस्वपना कर लेता है। उसके लिये उदय ही सर्वस्व हो चूका है। तब फिर बड़ी गड़बड़ी होती है। करवट बदलने की देरी है। ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित.. यह लिया है न देखो!

'ज्ञानलक्षण से लक्षित चैतन्यस्वभाव का अनुभव होने पर 'यह अनुभूति ही मैं हूँ' ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है।' कब जीव को ज्ञान प्रगट नहीं है? ज्ञानलक्षण से लक्ष करना मतलब ज्ञान उसका साधन हुआ। यह साधन जीव के पास कब उपलब्ध नहीं है? कि निरंतर जीव को ज्ञानलक्षण मौजूद ही है, प्रगट है, हयात है। कभी भी जीव को साधन को

खोजने जाना पड़े ऐसा नहीं है। आत्मा में जो अनन्त शक्तियाँ हैं उसमें साधन नाम की शक्ति है। शास्त्र परिभाषा में उसे करणशक्ति कही है। करण नाम साधन।

किसी भी दूसरे साधनांतर की इस आत्मा को अपेक्षा नहीं है। यह परिस्थिति है। कि, जिससे दूसरा कोई साधन मिले तब वह कार्य कर सके। बाहर में अनुकूलताएँ प्राप्त हो तब धर्म हो। तो तो फिर किसीको धर्म प्रगट होवे ही नहीं। क्योंकि किसीको पूरी अनुकूलता होती ही नहीं है। सब यही कहते हैं कि, अभी भी मुझे इतना झुटाना बाकी है, अभी मुझे इतना चाहिये। किसी को संतुष्टि होती ही नहीं है। परन्तु किसी साधन की अपेक्षा बिना...

यह शरीर को तो साधन कहा है। 'शरीराद्य खलु धर्म साधनम्' पुरुषार्थसिद्धि उपाय में 'अमृतचंद्राचार्य'ने यह बात की है। आत्मा के अंतरंग धर्म की बात नहीं है। बाहर में जो यम, नियम, संयम आदि व्यवहार धर्म है उसमें शरीर साधन की अपेक्षा है। आत्मा के धर्म को किसी शरीरसाधन की अपेक्षा नहीं है। ऐसा है।

बाहरमें मुनिपना आदि अंगिकार करे तो उनका जो निर्दोष बाह्य चारित्र्य का व्यवहार है उसमें सब जगह शरीरसाधन की उन्हें अपेक्षा है। इसीलिये तो मुनि को शरीर की अस्वस्थता कुछ हद से बाहर जाये, जिसमें लगे कि, बाह्य संयम में भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित जिनोक्त व्यवहार का पालन अब करना मुश्किल है तब वे मुनि संलेखना धारण करते हैं। फिर आयु चाहे क्षणिक हो या बरसों का हो। आयु होगी वहाँतक शरीर टिकनेवाला है, आहार के हिसाबसे नहीं। संलेखना धारण करते हैं। इसके पीछे क्या कारण है? कि, फिर उन्हें शरीर से बाह्यधर्म का पालन करना, आचरण करना, यह प्रश्न उनके लिये नहीं रहता। खत्म। फिर आहार छोड़ा, पानी छोड़ा। फिर तो दूसरी कौन सी प्रवृत्ति करने का बचा? कि कोई भी प्रवृत्ति उन्हें करने की नहीं रहती। खेल खत्म। आयु पर्यंत वे अपने स्वरूप साधनमें, अंतरमें स्वरूपसाधनमें लगे रहते हैं।

भगवान् 'महावीरस्वामी' सिंह के भवमें संलेखना की थी। तिर्यच होनेपर भी संलेखना कर ली। क्योंकि

सिंह तो घास खाता नहीं, दूसरे द्वारा मारे हुए प्राणी को नहीं खाता। खूद मारकर खाता है। राजा। मुख्य वृत्ति है न उसकी? दूसरा मारे और मैं खाऊँ, दूसरा मुझे लाकर दे सो बात नहीं। उसे स्वयं को जब भूख लगती है तब शिकार करके खाता है। सम्यग्दृष्टिको तो अभक्ष्य आहार नहीं होता। मध्य, मांस, दारू उन्हें नहीं होते। संलेखना कर लेते हैं। आजीवन पर्यंत दूसरा कुछ नहीं। वहाँ कोई बीमारी नहीं हुई। आजीवन पर्यंत आहार-पानी का त्याग। खलास। भले ही आयु जब पूरी होनी हो तब हो। सो तो पूर्वकर्म अनुसार है। इसमें तो जितना आयु लेकर आया है उतना समय बीताना ही पड़े। चाहे सिंह का भव हो चाहे तीर्थकर का भव हो।

'सीमंधर' भगवान् लाख पूर्व तक अरिहंतदशा में विराजमान रहेंगे। चौराशी लाख पूर्व की आयु होती है। 'ऋषभदेव' भगवान् को भी ऐसा ही था न! ८३ लाख वे छद्मस्थ अवस्था में हैं। एक लाख पूर्व अरिहंत अवस्था में हैं। आयु हो जबतक शरीर टिकता है, आहार के कारण शरीर नहीं टिकता। वहाँ कहाँ आहार है। एक लाख पूर्व तक तो आहार-पानी नहीं है वहाँ। ध्यानस्थ अवस्था में है। निरवशेष अंतर्मुखता है। आंशिक बहिर्मुखता भी नहीं है।

मुमुक्षु :- ज्ञानलक्षण में वह जब उदय में प्रवर्तमान है तब ज्ञानलक्षण का कार्य चलता है? परन्तु उसे लक्षमें नहीं आता इसी प्रकार से विचार कर सकते हैं, दूसरे प्रकार से...

पूज्य भाईश्री :- परन्तु 'मैं मनुष्य हूँ' - ऐसा कहाँ याद रखना पड़ता है? मैं यह व्यक्ति हूँ, मनुष्य देहधारी हूँ ऐसा विकल्प आपको कभी करना पड़ा? फिर भी भान वर्तता है। कोई आपको पशु कहकर संबोधन करके देखे तो जरा? आपकी जागृति तुरंत यह कहेगी, भाई! आप भूल रहे हो। आपको भान नहीं है। मुझे तो भान है कि, मैं मनुष्य हूँ आपको भान नहीं है-ऐसा कहेगा। इसका अर्थ क्या है? कि स्वरूप से मैं ऐसा हूँ ऐसा जिसने श्रद्धा से, ज्ञान से और आचरण से स्वीकार किया हो उसे फिर विकल्प उठाने की जरूरत नहीं पड़ती। विकल्प उदय सम्बन्धित

भले हो। उदय संबंधित विकल्प के कारण इसे कोई विस्मृत कर जाये ऐसा है नहीं। इतना बल एक बार तो जीव को पुरुषार्थपूर्वक आत्मा में आना चाहिये।

हमारे यहाँ यह विषय बीच में चला चूका कि, लोग यह नहीं जानते हैं कि सम्यक्दृष्टि कितने पुरुषार्थ के फल में सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ है। इसकी जीव को खबर नहीं है। यदि इनके अंतरंग पुरुषार्थ के जीव को दर्शन कराया जाये तो उसका मस्तक नमे बिना रहे नहीं।

बीचमें यह प्रश्न चला था न कि, सम्यक्दृष्टि के दर्शन करने या नहीं करने? तो कहते हैं कि, 'शांतदशा तीनकी पहचानी करे कर जोड़ी बनारीस वंदन।' जबकि वे तो स्वयं सम्यक्दृष्टि हैं। सम्यक्दृष्टि सम्यक्दृष्टि को वंदन करते हैं। क्यों करते हैं? कि, उन्होंने जो अंदरौनी शांति प्रगट की है, उस दशा की प्राप्ति में उन्होंने कितना पुरुषार्थ करके उस शांति को पाया है! शांति जो कि शक्तिरूप पड़ी थी, उसके अंतर का पाताल तोड़ा है उन्होंने। इस पाताल तोड़ने की अंतरंग पुरुषार्थ की जो प्रक्रिया है उसे देखे तो देखनवाले का मस्तक झुके बिना रहे नहीं। ऐसी उनकी स्थिति है। सो तो ऐसा है कि सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन को नमता है। मिथ्यादृष्टि को तो स्वच्छंद वश ऐसे विकल्प आते हैं कि दर्शन यूँ करना या नहीं करना? यह शंका का स्थान होता है वहाँ स्वच्छंद का प्रकार खड़ा हो जाता है।

कहते हैं कि, फिर वे सहजरूप से आते हैं। पुरुषार्थ की प्रबलता में एकबार स्वरूप में निर्विकल्प होने के पश्चात् निर्विकल्पता उनके परिणमन में बनी रहती है। उपयोग द्वारा एकबार निर्विकल्प हो जाये तो। ऐसा है। सम्यग्दर्शन के काल में शुद्धोपयोग, निर्विकल्प उपयोग द्वारा एकबार निर्विकल्प हो जाये तो फिर वह निर्विकल्पता उसके परिणमन में बनी रहती है। फिर दूसरे विकल्प उदयमान कार्य सम्बन्धित आये तो भी उसकी निर्विकल्प परिणति बनी रहती है। मुख्य परिणति है, निर्विकल्प परिणति है वह मुख्य परिणति है, उस मुख्य परिणति के अनुसार सारे कार्य होते हुए मालूम पड़ते हैं। कोई भी बाह्यकार्य वह खुद करता है ऐसा

उन्हें नहीं लगता। बोलने पर भी नहीं बोलते है, खाने पर भी नहीं खाते हैं, ऐसा क्यों कहा? खाते तो हैं। चलते हुए भी नहीं चलते हैं। क्योंकि वह मुख्य परिणति नहीं है। आर्तध्यान व रौद्रध्यान पंचम गुणस्थान तक साधक को रहता है।

मुमुक्षु :- बहुत कठिन लगता है।

पूज्य भाईश्री :- कठिन नहीं। वे अवकाश रखकर बाहर आते हैं, वही तो कहा। गुरु ने कहनेमें कोई कसर नहीं रखी। अवकाश रखकर बाहर (आते हैं)। ध्यानमें उतरे तब, बैठे तब निर्विकल्प हो सके इतनी गुंजाईश रखकर बाहर आया है। पूरा बाहर में आया ही नहीं। यह तो तुझे पता नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कहते हैं कि, उनकी जो निर्विकल्प परिणति है वह मुख्य परिणति है। आर्तध्यान व रौद्रध्यान उदयमान भावों में होता है। शास्त्र में आर्तध्यान व रौद्रध्यान की गति तिर्यच व नरक की बतायी है। आर्तध्यान के फल में तिर्यचगति और रौद्रध्यान के फलमें नरकगति प्राप्त होती है, परन्तु सम्यग्दृष्टि को इतनी मात्रा में आर्त-रौद्र नहीं होते। आर्त-रौद्र होते हैं परन्तु नरक-तिर्यच का बंध जो पड़ता है वह उन्हें नहीं पड़ता। इतना फर्क अवश्य हो गया है। आर्त-रौद्र को लोग देखेंगे परन्तु अंतर में रस को कौन देखेगा? अंदर में रस का अभाव हो गया है, उसे कोई नहीं देख सकता। ऐसा है।

मुमुक्षु :- 'भरत' व 'बाहुबली' दोनों को रौद्रध्यान होने पर भी मोक्ष में चले जाते हैं।

पूज्य भाईश्री :- सो तो क्षणिक हो गया। ऊपर-ऊपर से उसमें कोई दम नहीं है।

मुमुक्षु :- उनकी रौद्रध्यान की प्रवृत्ति दिखती है वैसे ही अन्य की रौद्रध्यान की प्रवृत्ति दिखती है।

पूज्य भाईश्री :- दोनों में अंतर है। बिल्ली अपने बच्चे को पकड़े और चूहे को पकड़ इतना। चूहा चाहे कितना भी घायल हो जाये तो भी पकड़ डीली नहीं करेगी। जबकि अपने बच्चे को दातों से कोई चट न आ जाये, चमड़ी भी सहीसलामत रहे वैसे उठायेगी। देखनेवाला ये कहेगा कि, दोनों को मुँह से ही पकड़ा है। परन्तु पकड़-पकड़ में फर्क होता है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- दोनों की निरंतर परिणति चलती थी।

पूज्य भाईश्री :- बिलकुल ठीक चलती, चल रही होती है। सिर्फ चलती है नहीं बहुत उग्रता से चल रही होती है। कोई मामूली रूप से नहीं चलती है। धोध है, अनंत गुणोंके प्रवाह का वह धोध है। 'सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व' है उसमें अनन्त गुणों के धोध का प्रवाह है। जैसे धोध गिरता है उसमें शक्ति होती है। इसमें से Electricity उत्पन्न होती है। वैसे इस धोध की तरह अनन्त गुणों का प्रवाह है। उसमें शक्ति का सामर्थ्य बहुत है। जो कि चतुर्गति के परिणाम को नष्ट कर देता है। वह गुंजाईश रखते हैं, सो तो कहा। गुंजाईश रखी होती है।

मुमुक्षु :- सीधे ही अंतर में उतर गये।

पूज्य भाईश्री :- बात खत्म। 'भरतेश वैभव' में 'भरतचक्रवर्ती' की तो बहुत बातें आती हैं। युद्ध में बैठे हो। लड़ाई करते हो। सारा दिन युद्ध किया हो। तीर पे तीर छोड़े हो और नारियल को चीर दे वैसे सामनेवाले का सिर धड़ से अलग होते हो। शाम को युद्धविराम होता है। उसके भी नीति-नियम होते थे। कोई इसमें दगाबाजी नहीं करते। शाम को सूर्यास्त के वक्त युद्धविराम हो जाता है। सूर्यास्त के समय। संध्या की सामायिक बैठे कि तुरंत निर्विकल्पध्यानमें आते हैं। सारा दिन क्रोध किया हो। वह किया हुआ क्रोध कहाँ गया? सचमें तो ऐसा है। ध्यान में बैठने के साथ ही निर्विकल्प ध्यान में आते हैं। उनकी गृहस्थाश्रममें साधना इतनी उग्र थी कि, जैसे ही दीक्षा अंगिकार की उन्हें व्यवहार-चारित्र्य में आना ही न पड़ा। सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में दीक्षा लेकर बैठते ही शीघ्रता से श्रेणी में आरूढ़ हो गये। अरिहंत दशा में (विराजमान हो गये)।

वैसे तो चौबीसों तीर्थकरों का मुनिकाल बहुत कम है। अगर एक chart बनाया जाये कि, इस तीर्थकर का जन्म इसवक्त हुआ, इतने साल राज्य किया। क्योंकि वे सब तो राजा थे न! इसलिये राज्य चलाते थे। या कोई जैसे ब्रह्मचारी हो तो भी राजकुमार थे। तत्पश्चात् मुनिदशा और फिर उनकी अरिहंतदशा। ऐसे चौबीसों तीर्थकर का अगर chart बनाया जाये तो सबका मुनिदशा का काल बहुत कम है। कितनों को कुछ दिन

है तो कितनों को कुछ महीने हैं। शायद ही किसीको साल या ज्यादा है लेकिन ऐसे बहुत कम है। उनका आयुष्य के हिसाब से तो बहुत कम हैं। उनका आयुष्य के हिसाब से तो बहुत कम है। क्योंकि पहले से ही इतनी साधना में वे रहते हैं कि, मुनिदशा में आनेपर उन्हें केवलज्ञान लेनेमें देर नहीं लगती। ऐसा है।

मुमुक्षु :- लड़ाई करे और शाम को ध्यान भी करे!

पूज्य भाईश्री :- (जबकि दूसरे) निर्विकल्प ध्यानमें नहीं आते। जोर-जोर से ज्ञानी की जय-जयकार कर, शास्त्र की जयकार करे, भगवान की जयकार करे, गुरुकी जयकार करे। जयकार करने से क्या हुआ? जयकार करते समय राग में उलझकर प्रवर्तते हैं। क्या करते हैं? रागमें एकाकार होते जाते हैं जबकि ज्ञानी अशुभमें भी एकाकार नहीं होते। जबकि अशुभ है सो तो तीव्र कषाय है।

मुमुक्षु :- ये जो करता है...

पूज्य भाईश्री :- स्वच्छंद तो तब है जब जीव के स्वरूपको अन्यथा कहे तब। जयकार न बोले परन्तु जय बोलाने के बारेमें उसे दूसरा विकल्प आता है। कि, यह जयकार बोलना उचित है या नहीं। जयकार बोले तबतक तो स्वच्छंद नहीं कहेंगे। सो तो प्रश्न यही चला था कि दर्शन करें या नहीं? ऐसा प्रश्न चला था। भाई! जिसने सारे जगत को अनिष्ट जानकर 'जगत इष्ट नहीं आत्मथी' सारे जगत सम्बन्धित विवेक के नतीजे में आत्मामें लीन हुए हैं।

जीव कब आत्मामें लीन होता है यह विचारणीय है। इस जगत में पाँच इन्द्रिय के विषयों का वैविध्य है। इसकी भी एक जबरदस्त दुनिया है। एक कर्णेन्द्रिय का विषय संगीत ले ले तो इसकी भी बड़ी दुनिया है। एक-एक विषयमें इतना वैविध्य है। और ये सब जगत के जीवोंको व्यामोह के स्थान हैं। वह उसे सुहाता है, ठीक लगता है। यह ठीक है - उसमें सारा का सारा उलझता है। उन्होंने सारे जगत को देखकर इसकी निःसारता जानकर उसे पीठ दे दी है। सारे जगत को जिन्होंने पीठ दी है और फिर आत्मामें लीन हुआ है। उनका यह जो महाविवेक है और उनका जो तत्संबन्धित

पुरुषार्थ है, ससंबंधित जो पुरुषार्थ है, उसे ज्ञानियों भी वंदन करते हैं। ज्ञानियों जिसे नमस्कार करते हैं, वहाँ तू अज्ञानी क्या चीज हो जो उसमें शंका करते हो, ऐसा कहते हैं। तू ऐसा कौन है कि जो उसमें शंका करते हो? कि तेरा इसमें कोई स्थान नहीं है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- मिथ्यात्व का जोर प्रबल वर्तता होगा न ?
पूज्य भाईश्री :- हाँ। तीव्र मिथ्यात्व का प्रकार है। क्या कहते हैं यहाँ पर ?

मुमुक्षु :- गुंजाईश रखनेवाली बात बहुत सुंदर है।
पूज्य भाईश्री :- कैसी कैसी बातें की हैं !

गुरु और शास्त्र तो दिशा बतलाते हैं कि रागादिरूप तू नहीं अतः वहाँ से दृष्टि हटा और ध्रुव में दृष्टिलगा। क्योंकि स्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर हो सकती है अस्थिर वस्तुमें दृष्टि स्थिर नहीं हो सकती। ध्रुव स्थिर वस्तु है, वह स्वयं के परिणाममें भी नहीं आती। अतः उसपर दृष्टि देनेसे दृष्टि स्थिर होती है, अर्थात् सम्यक्दर्शन होता है। इसप्रकार शास्त्र और गुरु दिशा दिखलाते हैं पर करना तो स्वयं अपने को है। इसके बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आनेवाला।

‘गुरु और शास्त्र तो दिशा बतलाते हैं...’ अंतर्मुख की जो दिशा, अनादि से जीव जिससे अनजान है ऐसी दिशा। उस दिशा में अंगुलीनिर्देश करते हैं। गुरु व शास्त्र तो जीव को अंगुलीनिर्देश करनेवाले हैं, कि देख! ऐसे अंतर्मुख हुआ जाता है। ‘या विधि संत कहे धनी है धनी है जिनवैन बड़े उपकारी’ कहा न? वे जिस विधि से कहते हैं, बस! वह उनका दिशासूचन है। जीव को दिशा बताते हैं। जो कि बहुत ही सारभूत है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- अपने दोषों का अपक्षपातरूपसे देखना नहीं होता है, यह स्वच्छंद है। क्या कहते हैं? अपने दोषों को निष्पक्षपातरूप से देखना होवे। कब होता है? कि जैसे ही ज्ञान को पकड़े तब विकल्पमात्र राग का एक कण भी दोषरूप दिखता है। सिर्फ ज्ञान को पकड़ता है तब उस ज्ञान के साथ-साथ उत्पन्न होता हुआ रागांश है वह जीव को दोषरूप दिखता है। यह दोष है। यह दोष है इसलिये वह ज्ञान को देखनेवाला उधर से हटता है, वहाँ से खिसकता है। वहाँ से जीव की शुरुआत होनी चाहिये। आखिरकार सारी बातें वहीं पर आकर समाती हैं।

अपने दोष को अपक्षपातरूपसे देखना यह स्वच्छंद नाश करने का अंतरंग उपाय है। बाहर में ज्ञानी की, साधक की अत्यंत-अत्यंत भक्ति होना। वह कल लिया

था न? विकल्प मिटने का साधन है। अत्यंत भक्ति प्रगट होना वह स्वच्छंद मिटने का साधन है। वह इसका बाह्य उपाय है, यह इसका अंतरंग उपाय है।

मुमुक्षु :- अपक्षपातरूप से मतलब ?

पूज्य भाईश्री :- अपक्षपातरूप से मतलब बिलकुल उसे अच्छा नहीं लगना। उसका पक्ष नहीं होना। इतना तो होवे ही न। प्रथम ऐसा विकल्प तो मुझे आयेगा ही न। मुझे प्रथम इतना विकल्प (तो आयेगा ही न) भाई! प्रथम इतना विकल्प तो करना कि नहीं करना? ऐसा भाई का प्रश्न था। परन्तु कोई भी राग करना यह सिद्धांत ही नहीं है। वीतरागमार्ग के सिद्धांत में आदि से अंत तक राग करने की शिक्षा नहीं है, राग करना यह सिद्धांत नहीं है, ऐसा उपदेश नहीं है। राग को मिटाना यह उपदेश व सिद्धांत है। अतः अपने दोषोंको अपक्षपातरूप से देखना।

‘श्रीमद्जी’ने २५४ नंबर के पत्रांक में यह बात लीखी है। तब जीव का स्वच्छंद थोड़ा या अधिक मात्रा में हानि को प्राप्त होता है। वहाँ ऐसा शब्द लिया है। अभी पूरा नहीं छूट जाता। जहाँ स्वच्छंद थोड़ा या बहुत हानि को प्राप्त हुआ हो, वहाँ सामान्यतः मुमुक्षुता उत्पन्न हुई है ऐसा कहा जाता है। जहाँ स्वच्छंद हानि को प्राप्त नहीं होता है वहाँ मुमुक्षुता भी नहीं है, ऐसा लिया है। ऐसा अनर्पित रूपसे अर्थ निकलता है। और स्वच्छंद

जहाँ थोड़ा-बहुत हानि को प्राप्त हुआ है वहाँ फिर उसकी योग्यता को रोकनेवाले जो भी कुछ कारण हैं, इसके तीन भेद लेकर, उन कारणों का नाश करना चाहिये ऐसी बात की है। उन कारणों में पदार्थ का अनिर्णय, सत्पुरुष के प्रति परम दैन्यता की कमी, वरना तो ऐसा कहेगा कि, हमको तो सत्पुरुष के प्रति बहुमान है। (परन्तु) कमी है, उसमें क्षति है, कमी है वह भी तेरी योग्यता को, अनुभव की योग्यता को बाधारूप है। वहाँ तीन बोल लिये हैं और बाहर में जगत के सुख की अल्प भी सुखेच्छा परन्तु अभी कहाँ प्रभु! वीतराग हो गये हैं? थोड़ी तो हमें सुखेच्छा होगी ही न। बहुत तीव्रता नहीं हो। तीव्र वैभव और भोग-विलास में न जाएँ परन्तु अल्प सुखेच्छा की भी मना कर दी? कहते हैं कि, यहाँ तेरा अभिप्राय छूट जाना चाहिये।

अगर आत्मा सत् परमानंदरूप है... वहाँ ऐसा विषय चला है, वहाँ जीव को शाता के सुख में सुहाता है, तो उसकी योग्यता अटक जाती है-ऐसा लिया है। सीधा ऐसा ही लिया है। अंतरंग में बहुत ही सूक्ष्म विषय को पकड़ा है। क्योंकि जैसे ही मुमुक्षु होता है, अशुभरस घटता है, शुभभाव वृद्धिगत होते हैं तो उसवक्त शाता की उत्पत्ति तो हुए बिना रहेगी नहीं। और जैसे ही शाता की उत्पत्ति में यह ठीक है ऐसा लगा और संतुष्ट हुआ कि बात खत्म हो जाती है। उसकी योग्यता का विकास अटक जाता है, ऐसा कहते हैं। योग्यता के बाधक कारण लिये हैं। जो योग्यता विकसित होकर सम्यक्दर्शन को प्राप्त करती है, वह स्थिति से वंचित रह जायेगा। तीन बात ली हैं।

मुमुक्षु :- कौनसा पत्रांक है?

पूज्य भाईश्री :- २५४। 'खंभात' के मुमुक्षुओं को लिखा है। २४ वे वर्ष में है। २४वें वर्ष में ऐसे पत्र लिखे हैं! लिखते हैं कि, 'हमने इसमें बहुत गूढ़ शास्त्रार्थ भी प्रतिपादन किया है।' उसका विशेष-विशेष विचार किजियेगा। और प्रत्यक्ष समागम में पूछेंगे तो इसका विशेष खुलासा करेंगे। परन्तु अगर पूछेंगे तो ही हं! आपको जिज्ञासा नहीं होगी तो यहाँ कहा गया है वह आपको कुछ काम नहीं आयेगा। ऊपर से चला

जायेगा।

मुमुक्षु :- 'गुरुदेवश्री' बहुत कहते थे, जो पूछता है उसे यह कहा जा रहा है।

पूज्य भाईश्री :- इसलिये शास्त्र में प्रश्न-उत्तर की शैली इसीलिये है कि, इस विषय के विचारक को यहाँ जिज्ञासापूर्वक ऐसा प्रश्न उठने की संभावना है। अगर ऐसा प्रश्न नहीं उठता है तो उसको यह उत्तर कार्यकारी नहीं होगा। उसको अंतर में यह बात की प्रतीति नहीं होगी कि ये क्या कहना चाहते हैं।

कहते हैं कि, 'गुरु और शास्त्र तो दिशा बतलाते हैं...' अंतर्मुखता की दिशा बताते हैं। ऐसी विधि द्वारा बात करते हैं ऐसा कहते हैं। यह एक विशिष्टता है। कल यह प्रश्न पर चर्चा चली थी न कि, ज्ञानी और अज्ञानी के कथन में क्या फर्क होता है? दोनों की विधि में फर्क है। ठीक! जिस विधि से वे कहते हैं, कथन की जो कहने की विधि, उसमें एक अंतरंग दिशा को दर्शाते हैं जबकि दूसरे को दिशा का ही ज्ञान नहीं है (अतः) दर्शाने का प्रश्न उसके कथनमें नहीं आता। ऐसा है। Tone बदलता है। शब्द वही के वही होते हैं फिर भी उसमें ध्वनि बदल जाता है। उसका जो आंतरध्वनि है वह अलग ही होता है जबकि इसका वैसा अंतरध्वनि होता ही नहीं। रूपया तो कलाई का भी होता है और चांदीका भी होता है। दोनों की टंकार में फर्क है। ऊपर में छपाई एक-सी होने से उसकी कीमत एक-सी आती है क्या? एक-सी कीमत आती है? नहीं आती। अरे..! चांदी एक रूपये जितनी हो उसपर छाप नहीं हो तो भी उसकी कीमत मिलती है। उसके लिये जरूरी नहीं है कि उसपर छाप डालनी पड़े। चांदी है इसलिये उसकी कीमत मिलेगी, मिलेगी और मिलेगी है।

मुमुक्षु :-

पूज्य भाईश्री :- यानी कि जो चीज है सो है। जिसकी जो कीमत है सो है। लोगोंके कहनेसे कोई अज्ञानी ज्ञानी हो जाता है? कलाई चांदी बन जाये ऐसा तो नहीं बनता। लोग अज्ञानी को ज्ञानी स्थापित कर दे इससे कोई कलाई चांदी बन जाती है क्या?

जबकि किसी ज्ञानी को लोगों के नहीं पहचानने से कोई चांदी मिटकर कलाई नहीं बन जाती। जो कीमत है वह तो है ही। अच्छीतरह बनी रहती है।

उनके जो वचन है उसमें दिशासूचन है। लीजिये यह एक मार्मिक विषय है इसका। वचन का जो मर्म है वह यहाँ रहा है। जो अंतरंग की दिशासूझ देती है। देख तेरे ज्ञानवेदन को तू देख। इस वेदन को देखने के लिये तुझे जो अपने ज्ञान का बहिर्मुख झुकाव है उसे बदलना पड़ेगा। ऐसा है। वह कहा न यहाँपर? ३४८ में वह विषय लिया कि, अंतर में तू अपने चलते हुए परिणमन को देखेगा तो राग की दिशा पर तरफ है वह तुझे दिखेगी। 'और ज्ञानकी दशा की दिशा स्व तरफ है...' ऐसा तेरे देखने में आयेगा। इसे तू देख। यह हमारा कहना है कि तेरा ज्ञान जो है उसकी दशा, ज्ञानवेदन उसकी दिशा अंतर्मुख की ओर है, अंतर

की दिशा है। उसकी दशा बाहर की नहीं है। बाहरी दिशा ज्ञान की हो तो वह ज्ञान नहीं है ऐसा कहते हैं। ठीक ! उसे हम ज्ञान नहीं कहते। ज्ञान की पर्याय भले ही पर को जाननेरूप हो परन्तु उसे हम ज्ञान नहीं कहते। ऐसी दिशा दिखाते हैं।

'गुरु और शास्त्र दिशा बतलाते हैं...' और दिशा बताते हैं तब कहते हैं कि 'रागादिरूप तू नहीं...' जिस राग को तू सर्वस्व मानकर प्रवर्तते हो वह तू नहीं। 'अतः वहाँसे दृष्टि हटा,...' उसकी उपादेयता को खत्म कर। दृष्टि हटा अर्थात् उसकी उपादेयता को खत्म कर। '...और ध्रुव में दृष्टि लगा।' ध्रुव आत्मा को सर्वस्वरूप से उपादेय कर। जो अनन्त गुणोंका निधान है उसकी उपादेयता कर। इसतरह ज्ञानी अंतःतत्त्वस्वरूप जो तत्त्व है, उस तरफ की (दिशा दशाति हैं)।

'स्वानुभूतिप्रकाश' (हिन्दी) का स्वामीत्वका विवरण फोर्म नं.४, नियम नं. ८

पत्रका नाम	: 'स्वानुभूतिप्रकाश' (हिन्दी)
प्रकाशन स्थल	: श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
प्रकाशन अवधि	: मासिक
मुद्रक	: भगवती ऑफसेट, १५/सी बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८०००४
प्रकाशकका नाम	: श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
संपादकका नाम	: हीरालाल जैन, (भारतीय), ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
स्वामित्व	: श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१ में, हीरालाल जैन, एतद द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकृत जानकारी और विश्वास अनुसार उपरोक्त विवरण सत्य है।

ता. ३१ मार्च, २०१३

हीरालाल जैन

मेनेजिंग ट्रस्टी, श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मार्च-२०१३) का शुल्क श्री विजय ओईल मिल, ह. झवेरी सावला, (दादर) मुंबई, ०९३२२२९०६८० के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनमृत

निज पूर्ण भगवान ज्ञान लक्षणसे लक्षित होने पर, सहज उसकी मुख्यता रहती है; (मुख्यता नहीं रहती है तो लक्ष हुआ ही नहीं) और वह अन्य सभीसे उपेक्षा होनेमें मूल कारण है। (७०)



आत्मस्वरूपसे विपरीत ऐसे शुभाशुभ भावोंमें आना / परिणमन करना वह प्रमाद है। प्रमाद चोर है। वह छुपकरके आत्मगुणोंरूपी धनकी चोरी कर लेता है। सहज प्रत्यक्ष निज स्वरूपमें अनन्यरुचिसे अभेदभाव होना वह अप्रमाद अथवा पुरुषार्थ है। (७१)



अनंत महिमावंत आत्मस्वरूप, अचिंत्य दिव्य चैतन्य रत्न है । (अगर) उसकी अपूर्वतासे महिमा आई तो वह उसकी सँभाल (देख भाल) है। स्वरूपकी इस प्रकारसे सँभाल नहीं करना और अप्रयोजनभूत, निरर्थक, अन्य पदार्थोंमें सावधानी रहना - वह महा मूर्खता है - अनंत क्लेशोदधिका कारण है। (७२)



'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसे स्वाकार - स्वरूपाकार परिणमनमें अन्य सर्व ज्ञेयमात्ररूप रह जाता है। सत् देव-शास्त्र-गुरुके प्रति लक्ष जाने पर, वे भी 'इस'-'ज्ञानमात्र' को ही (मुझे ही) दिखा रहे हैं, ऐसा जाननेमें आता है। (७३)



अज्ञानदशामें, पूर्वपुण्यके उदयसे संयोगरूप सामग्री क्षणिक/अनित्य होने पर भी नित्यरूप भासित होती हैं; जैसे कि 'यह सबकुछ' मेरे साथ हमेशा रहनेवाला है; अतः उसका तथारूप रस - परिणति बन जाती है; जबकि उससे विरुद्ध -

ज्ञानदशामें, पुण्य-योगसे बाह्य-वैभवमें ज्ञानी होते हैं तो उसमें खुदकी नित्यतापूर्वक अनित्यताका भान उन्हें रहता है। अतः उनको इसमें रस नहीं आता, बल्कि ज्ञानपरिणति यथावत् रहती है। (७४)



अक्टूबर -१९८५

ज्ञानपनारूप ज्ञान सर्व जीवकी दशामें सामान्य है, फिर भी सर्वको विवेकबुद्धि एक सरीखी नहीं होती। परिग्रहबुद्धि अर्थात् परिग्रहका ममत्व जहाँ अभिप्रायपूर्वक होता है वहाँ अविवेककी परंपरा शुरू हो जाती है। अतः ज्ञानियोंने परिग्रहबुद्धिको 'अविवेककी खान' कही है, जिसमें से सर्वदोष पनपते हैं। (७५)



शुभाशुभ परिणामके कालमें बहिर्मुख भावोंमें वेग तीव्र होनेसे एवं दर्शनमोहके कारण जीव निज अवलोकनमें प्रवर्तित नहीं हो सकता, तब आत्मस्वरूप सम्बन्धित विकल्प भी बेकार जाते हैं और जीव पुण्य-पापमें सावधान होकर - रहकर क्लेशको प्राप्त होता है। परन्तु जागृत आत्मार्थीको दर्शनमोहका रस कम होनेसे वह अवलोकनमें आकर राग रसको तोड़ता है। (७६)

द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से दृष्टि के परिणामन और दृष्टि के विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनमृत



केवलज्ञान से अपने को लाभ होनेवाला नहीं और शुभाशुभभावों से अपने को नुकसान होनेवाला नहीं, 'मैं तो ऐसा तत्त्व हूँ।' (ध्रुवतत्त्व, उत्पाद-व्यय से निरपेक्ष है - ऐसी दृष्टि की बात है।) जैसे कोई मेरु से माथा फोड़े तो उससे मेरु हिलता नहीं है, ऐसे ही परिणाम मेरे से टकराते हैं तो भी 'अपन' परिणाम से हिलनेवाले नहीं हैं। ४२९.

❀

इधर की (त्रिकाली की) दृष्टि होती ही (पर्याय अपेक्षा) मुक्ति चालू हो जाती है। चालू क्या हो जाती है! (द्रव्यदृष्टि अपेक्षा या भावीनय से) मुक्ति हो ही गई। ४३७.

❀

'दृष्टि' वस्तु का अवलंबन क्या लेती है!! - वह तो समूची वस्तु को ग्रास कर जाती है; पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त हो जाती है; मालिक बन जाती है। मालिक कहने में भी भेद आ जाता है, 'दृष्टि' तो स्वयं ही उस वस्तुरूप है। ४४२.

❀

(एक समय का) अनंत आनंद का वेदन आवे - वह भी 'मैं; (त्रिकाली तत्त्व) नहीं हूँ; क्योंकि वेदन का 'मेरे' में (त्रिकाली में) अभाव है। 'मैं' एक समय के वेदन में आ जाऊँ तो 'मेरा' नाश हो जाए। ('मैं' एक समय की पूर्ण पर्याय जितना ही नहीं हूँ, लेकिन पूर्ण पर्याय से भी अधिक हूँ - ऐसा कहने का भाव है।) ४६७.

❀

दृष्टि तो हर समय अपने को पूर्ण ही देखती है। मुनि भी ऐसा कहते हैं कि 'हम तो पामर हैं' लेकिन उन्हें तो अपनी खिली हुई परिणति का मुकाबला पूर्ण (स्वरूप) के साथ करते हुए, अपनी पामरता लगती है - इस अपेक्षा से (अपने को पामर) कहते हैं। दृष्टि तो साधक-बाधकपना ही नहीं स्वीकारती है। ४७०.

❀

मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो, यह देखो ही मत! 'मैं तो ध्रुव तत्त्व हूँ' - यहाँ आते ही मिथ्यात्व-पर्याय भी निश्चय से - नियम से चली जाएगी। दृष्टि के निर्णय में पूर्ण शुद्धि भरी हुयी है। (दृष्टि के विषयभूत स्वस्वरूप में पूर्ण शुद्धि भरी है, अतः उसके निर्णय में भी अर्थात् निर्णय के गर्भ में भी पूर्ण शुद्धि का सत्त्व है। स्वरूपनिर्णय के काल में नियम से स्वरूप अस्तित्व का ग्रहण होता है और स्वभाव के संस्कार ऐसे पड़ते हैं कि जिसके फलस्वरूप सिद्धपद प्रगट होगा ही। ऐसे दृष्टि के विषयभूत स्वस्वरूप का निर्णय होते ही सभी अवस्थाओं के प्रति उपेक्षा सहज ही हो जाती है) ४८०.

❀

यह ध्रुवतत्त्व किसीको नमता (झुकता) ही नहीं है। खुद की सिद्धपर्याय को भी नहीं नमता। ४८१.

❀

'मैं कृतकृत्य चैतन्यधाम हूँ, विकार ने मुझे छुआ ही नहीं, मैं ध्रुवधाम हूँ' - ऐसा अपना अहम्पना आना चाहिए। ४९१.

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- ज्ञानीको विकल्पसे इतनी अधिक पृथक्ता लगती होगी मानो दूसरा कोई विकल्प कर रहा हो?

समाधान :- दूसरा कोई विकल्प करता है इतनी पृथक्ता नहीं, परन्तु मेरा स्वभाव विकल्पोंसे पृथक् है। पुरुषार्थकी मंदतासे वे मुझमें होते हैं, परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है। उससे भिन्न भेदज्ञान-ज्ञाता-परिणति वर्तती है। वह स्वभावसे एकत्व एवं विभावसे विभक्त है। जो विभावसे विभक्त हुआ, वह शरीरसे विभक्त हो ही गया है। द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म हैं; उनमें जो भावकर्मसे न्यारा वर्तता है वह द्रव्यकर्म तथा नोकर्मसे पृथक् ही वर्तता है। कोई स्थूलतासे कहे कि मैं शरीरसे भिन्न हूँ-भिन्न हूँ, किन्तु अंतरसे भिन्न नहीं हुआ है तो वह वास्तवमें भिन्न हुआ ही नहीं है। कोई स्थूलतासे कहे कि मैं शरीरसे भिन्न हूँ, किन्तु यदि विकल्पसे भिन्न परिणमित नहीं होता तो शरीरसे भिन्नताकी बात मात्र अभ्यासरूप है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२३)



प्रश्न :- सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होनेमें क्या श्रद्धाका ही दोष है?

समाधान :- सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होनेमें श्रद्धाका ही दोष है। चारित्रका दोष वह श्रद्धाको नहीं रोकता। श्रद्धाको श्रद्धाका ही दोष रोकता है। अनन्तानुबंधी कषायका संबंध श्रद्धाके साथ है; जिसकी श्रद्धा बदले उसके अनन्तानुबंधी कषाय टल ही जाते हैं। अनन्तकालसे श्रद्धाका दोष है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२४)



प्रश्न :- आत्मार्थमें संयम और न्याय-नीतिको बीचमें लाना या नहीं?

समाधान :- जिसे आत्माकी रुचि लगे, जिसे आत्मा ही चाहिये, दूसरा कुछ नहीं चाहिये, उसके न्याय-नीति सब होते हैं। अमुक पात्रता तो उसके

होती ही है। जिसकी श्रद्धा पलट जाती है उसे अमुक प्रकारकी श्रद्धाके साथ जिसका संबंध है वैसी पात्रता होती है। पात्रताके बिना श्रद्धा नहीं होती।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२५)



प्रश्न :- अविनाभावीपना कहे तो क्या आपत्ति आयगी?

समाधान :- अविनाभावीपना तो है, इसलिये अमुक प्रकारकी पात्रता उसको होती है। उसकी रुचि जहाँ बदलती है, जहाँ आत्मार्थिता होती है, और जहाँ एक आत्माका ही प्रयोजन है वहाँ उसके कषाय मंद होते हैं। उसे विषय-कषायोंकि गृद्धि टूट जाती है। एक आत्मा ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये, ऐसी उसकी अंतरपरिणति हो जाती है। उसे न्याय-नीतिके साथ संबंध होता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२६)



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् उनको नीतिका विशेष उद्भव होता है। यह सच है?

समाधान :- सम्यग्दर्शनके साथ जितना नीतिका संबंध हो उतनी नीति होती है। व्यवहारसे अयोग्य हो ऐसी अनीति उसे नहीं होती। सम्यग्दर्शनके साथ नीतिको संबंध होता है। सम्यग्दर्शनके पूर्व भी नीतिके साथ संबंध होता है। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् कोई अनीतिके कार्य करे ऐसा नहीं है। उसको चाहे जैसा आचरण होता ही नहीं। अंतरमें इतनी मर्यादा आ गई है कि स्वरूपाचरणचारित्र एवं भेदज्ञानकी धारा वर्तती है, और ज्ञायककी धारा प्रगट हो जानेसे जो विभावका कर्ता नहीं होता, उसको बाह्य विभावोंकी मर्यादा आ ही जाती है। जिसके अंतरमें मर्यादा हुई वह ज्ञायकको छोड़कर कहीं नहीं जाता। ज्ञायककी धाराके सिवा कहीं उसकी परिणति एकत्व नहीं करती। इसलिये उसके प्रत्येक कार्यमें मर्यादा होती है। उसको मर्यादा रहित कुछ नहीं होता। उसकी भूमिकाके योग्य ही सब होता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२७)



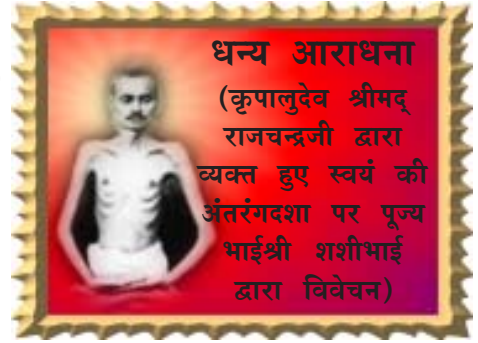
‘सरल मार्ग मिलने पर भी उपाधिके कारण तन्मय भक्ति नहीं रहती, और एकतार स्नेह उमड़ता नहीं है। इसलिए खेद रहा करता है और वनवासकी वारंवार इच्छा हुआ करती है। यद्यपि वैराग्य तो ऐसा रहता है कि प्रायः आत्माको घर और वनमें कोई भेद नहीं लगता; परन्तु उपाधिके प्रसंगके कारण उसमें उपयोग रखनेकी वारंवार

जखरत रहा करती है, कि जिससे परम स्नेह पर उस समय आवरण लाना पड़ता है, पूर्ण लय आये बिना देहत्याग नहीं किया जा सकेगा ऐसा लगता है, और वारंवार यही रटन रहनेसे ‘वनमें जाये’ ‘वनमें जाये’ ऐसा मनमें हो आता है। आपका निरंतर सत्संग हो तो हमें घर भी वनवास ही है।’

इस वचनमृतमें भी स्वरूपमें तन्मय रहनेकी वृत्तिवश कृपालुदेवके परम वैराग्यभावका दर्शन होता है; यद्यपि परमस्वरूपमें जितना चाहिए उतना एकतार परिणमन नहीं रहता होनेसे खेद भी होता है; तथापि अत्यंत वैराग्यके कारण घर और वन दोनोंमें तफावत नहीं दिखता है। व्यवसायकी उपाधिके कारण उसमें उपयोग देना पड़ता है; तब स्वरूपभक्ति (आराधना) पर आवरण लाना पड़ता है, ऐसा होता है, जो नहीं पुसाता है; ऐसी स्थितिमें आयुष्य पूरा होनेका निषेध वर्तता है और स्वरूपमें पूर्ण लय प्रगट करनेके लिए वनमें जानेकी रटन चल रही है। इस परिस्थितिमें वनवासकी जगह श्री सौभाग्यभाईका सत्संग स्वयं चाहते हैं, दूसरा कुछ नहीं चाहते।

‘असंगता बहुत ही याद आती है; और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असंगताके बिना परम दुःख होता है। यम अंतकालमें प्राणीको दुःखदायक नहीं लगता होगा, परन्तु हमें संग दुःखदायक लगता है। यों अंतवृत्तियाँ बहुतसी हैं कि जो एक ही प्रवाहकी हैं। लिखी नहीं जाती; रहा नहीं जाता;.... कोईसुगम उपाय नहीं मिलता। उदयकर्म भोगते हुए दीनता अनुकूल नहीं है। भविष्यके एक क्षणका भी प्रायः विचार भी नहीं रहता।’

लौकिकजनोंका संग करने योग्य नहीं है फिर भी इनके बीच रहना पड़ता है, इसलिए वारंवार असंगताका स्मरण आ जाता है और इस असंगताकी चाहत इतनी हद तक रहती है कि इसके बिना परम दुःख होता है। जगतके प्राणीको जितना अंतकालमें प्राणत्यागका दुःख होगा, इससे भी लौकिकजनोंका संग खुदको अधिक दुःखदायक लगता है। इन वचनों पर से कृपालुदेवकी अंतर्मुख रहनेकी वृत्तिमें कितना वेग है, इसका अंदाज आता है। तथापि इच्छित सत्संगके अभावमें और असत्संगके सद्भावमें केवल अंतर्मुख रहनेका सुगम उपाय कोई नहीं दिखता, फिर भी उदयकर्म भोगते हुए दीनतामें आना मार्गको अनुकूल नहीं है बल्कि प्रतिकूल है; अतः वैसा कर्तव्य नहीं है, स्वयं उदयकर्ममें प्रवृत्ति किसी भावि अनुकूलताकी आशा वश या भविष्यके संयोगोंकी चिंता वश नहीं करते। सामान्यतया संसारीजीवका भविष्यकी चिंतासे मुक्त होना नहीं बनता और संसारीजीवोंके परिणाम उदयमें फँसे ही रहते हैं। जब कि कृपालुदेवको तो प्रगट ज्ञानदशामें, अव्याबाध स्वरूपस्थिति-उसरूप परमात्माका आधार संप्राप्त है या तथारूप परमात्माका अनुग्रह वर्तता है कि जिससे भविष्यकी एक क्षणका चिंतारूप सामान्य विचार भी उत्पन्न नहीं होता है। ऐसे आराधकभाव जिन महात्माको हो, वे शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त हो, इसमें कौनसा आश्चर्य है?



धन्य आराधना

(कृपालुदेव श्रीमद्
राजचन्द्रजी द्वारा
व्यक्त हुए स्वयं की
अंतरंगदशा पर पूज्य
भाईश्री शशीभाई
द्वारा विवेचन)